वह जादुई स्कूल

सभी चित्र की एम भोंडे

अभय बंग

अनुवादः अरविंद गुप्ता

बरसों पहले सेवाग्राम आश्रम के विद्यालय में पढ़ाई के लिए अपनाए गए तरीके नायाब थे। तरीके तो आज भी प्रासंगिक हैं लेकिन वैसे स्कूल अब नहीं रहे।

आपने अक्सर बड़े-बूढ़ों के मुंह से यह बात जरूर सुनी होगी कि "मेरे बचपन की तो बात ही कुछ निराली, अब वह बात कहां बची है?" ऐसे ही मैं भी बचपन में एक अनूठे स्कूल में पढ़ा करता था लेकिन वैसी शिक्षा मैं आज अपने बेटे आनंद को नहीं दे सकता। यह मेरी ज़िंदगी का सबसे बड़ा दुःख है। आखिर मेरे स्कूल में ऐसी क्या खास बात थी?

नवीं तक की मेरी पढ़ाई गांधीजी की नई-तालीम पद्धति के अनुसार हुई। उसमें से पूरे चार साल तो मैंने सेवाग्राम आश्रम के नई-तालीम विद्यालय में बिताए। शिक्षा का मतलब यह नहीं कि हम प्रकृति को छोड़कर,

कक्षा की चारदीवारों के बीच कैद होकर, किसी उबाऊ पाठ्यक्रम को रटें। इसके विपरीत, गांधीजी की नई-तालीम का तो यह मानना था कि प्रकृति के करीब रहकर और समाज उपयोगी काम करके ही बुद्धि का विकास होगा और इनके द्वारा बच्चे अनेक कुशलताएं हासिल करेंगे। इस पद्धति के विकास के लिए गांधीजी के आग्रह पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शान्तिनिकेतन से श्री आर्यनायकम् और श्रीमती आशादेवी की सिंहली-बंगाली जोड़ी को सेवाग्राम भेजा था। इसी वजह से गांधीजी की शिक्षण-पद्धति को रवीन्द्रनाथ का प्रकृति और कला-प्रेम मिल पाया। स्कूल की शुरुआत से ही मेरे माता-पिता इस प्रयोग में शामिल थे। इस स्कूल में पढ़ाई के तरीके एकदम नायाब थे। उन तरीकों के कुछ उदाहरण मैं यहां पेश कर रहा हूं।

वन्य-जीवों से परिचय

आज तो सभी जगह जंगली-जीवों के संरक्षण की बात होती है। परन्तु 27 वर्ष पहले यह विषय इस हद तक चर्चित नहीं था। तब हमारे मराठी के शिक्षक 'पाटिल गुरुजी', अपनी क्लास कटहल के पेड़ की डाल पर बैठकर चलाते थे। वे हमें जंगलों की कहानियां और अपने शिकार-वर्णन सुनाते थे। एक बार गलती से उन्होंने एक गर्भवती हिरणी पर गोली चला दी। उस मासूम प्राणी की आंखों का दर्द देखकर वे सहम गए। इस घटना के बाद उन्होंने बंदूक को हमेशा के लिए त्याग दिया और कैमरे से जानवरों के चित्र खींचने लगे। उन्होंने रात-रात भर मचान पर बैठकर वन्य-जीवों के अनूठे चित्र खींचे। उनकी रोचक कहानियों में जानवरों के प्रति प्रेम साफ झलकता था। उनकी कहानियों को सुनकर हमें ऐसा लगता था जैसे मानों हम खुद ही जंगल की सैर कर रहे हों। वे शब्दों के शिल्पी थे। शब्दों से ही वे जंगल की तस्वीर खींच देते थे। जंगल के प्रति मेरा प्रेम और जानकारी इन्हीं कहानियों से बढ़ी। आजकल की किताबों में मराठी भाषा का पाठ प्रायः इन शब्दों से शुरू होता है 'प्राणी के मतलब होते हैं पशु'। भला ऐसे नीरस और उबाऊ तरीके क्या कभी बच्चों को प्रेरित कर पाएंगे? महाराष्ट्र का गढ़चिरौली ज़िला आज भी जंगलों से भरा है। पर वहां भी स्कूली-शिक्षा का वास्तविक जंगलों से दूर-दूर तक कोई सरोकार नहीं है।

संतों का मेला

संत तुकाराम के अभंग (पद) भी हमें कड़वी दवा की तरह नहीं पीने पड़े। आषाढ़ की एकादशी को हमारे स्कूल में हर वर्ष संतों का एक मेला लगा करता था। इसमें अलग-अलग संतों की टोलियां और कीर्तन-मंडलियां आती थीं। संतों के जीवन-प्रसंगों पर

झांकिया सजती थीं, नाटक खल जाते थे, चित्र बनाए जाते थे और लेख-निबंध लिखे जाते थे। यह सब काम स्कूल के सभी बच्चे मिलकर करते थे। पूरे पंद्रह दिनों तक स्कूल में एक मेले जैसा माहौल बना रहता था। तुकाराम के एक अभंग 'जे का रंजले गांजले' को मैंने वहां तीन अलग-अलग प्रकार से गाना सीखा। वहां की गीत-मंडली में मैंने पहली बार 'राग-भैरवी' भी गाना सीखा। संतों की वाणी, उनका इतिहास, उनका जीवन-दर्शन आदि हमने सहज प्रकार से खेल-खेल में सीखा। फर्क सिर्फ इतना था कि वहां सीखने में भाषा, इतिहास, संगीत और दर्शन आदि के लेबिल नहीं चिपके थे।

कई सालों बाद जब मैं एक सरकारी स्कूल में गया तो वहां मुझे 'काव्य-कुसुमांजली' नाम की एक भारी-भरकम पाठ्य-पुस्तक में संत तुकाराम का 'जे का रंजले गांजले' अभंग दिखाई पड़ा। उसे देख शायद तुकाराम स्वयं दुखी होते।

ऐसे सीखा वनस्पति शास्त्र

बहुत से स्कूलों में वनस्पति शास्त्र के विषय को किताबों में छपे चित्रों या फिर कांच की बोतलों में कैद 'स्पेसिमेन' नमूनों के ज़रिए पढ़ाया जाता है। पौधों की अलग-अलग प्रजातियों के जबड़ातोड़ तकनीकी नामों को बच्चे बड़ी कठिनाई से रटते हैं और इम्तिहान के तुरन्त बाद भूलने भी लगते हैं।

हमारी नई-तालीम के स्कूल के आसपास के बगीचों और खेतों में नाना प्रकार के पेड़-पौधे थे। सबसे अच्छी बात तो यह कि हमारे शिक्षक सब बच्चों को साथ लेकर इन बाग-बगीचों में घूमते, वहां पौधों का निरीक्षण-परीक्षण होता था। जो भी पेड़-पौधे दिखते, सबसे पहले उनके नाम से परिचय करवाया जाता था। फिर उनके पत्तों, फूलों और फलों का बारीकी से मुआयना किया जाता था। उसके बाद बेर, आंवले, करौंदे आदि फलों को तोड़कर खाने की बारी आती थी। (कक्षा में इस प्रकार चीज़ों को चखकर सीखने का दूसरा अनुभव मुझे अमरीका में हुआ परन्तु वहां क्लास में बैठकर चॉकलेट खाने और कोका-कोला पीने की परम्परा दिखाई दी।) फल खाते-खाते हम बेर और आम के फलों की समानताओं पर चर्चा करते और 'ड्रप' नाम के फल को देखकर उसकी विशेषताओं को नोट करते। इस प्रकार बाग-बगीचों का भ्रमण करके और प्रकृति का समीप से दर्शन करके हम वनस्पति शास्त्र को काफी गहराई और बारीकी से समझ पाए। वनस्पति-शास्त्र की किताबों में जिन सिद्धांतो का वर्णन होता है वे हमारे चारों ओर सुखद हरियाली के रूप में बिखरे पड़े होते थे। उन्हें प्रत्यक्ष देखने की और जांच-परख करने की प्रेरणा हमें हमारे शिक्षक दे सके। इसी वजह से 'पामेट डायवर्जेंट रेटिक्यूलेट' जैसे भारी-भरकम शब्द मुझे अटपटे नहीं लगते। इसका कारण सरल था। मेरे एकदम पास, आंखों के सामने, पपीते के पेड़ का पत्ता जो था।

सातवीं की परीक्षा के लिए हमारे गुरुजी ने हमसे अलग-अलग पत्तों और फूलों का एक वैज्ञानिक एल्बम बनाने को कहा। हमने इसके लिए अपने पास-पड़ोस का पूरा इलाका छान मारा। आज इतने साल बीतने के बाद भी, सेवाग्राम के परिसर में कहां-कहां 'पामेट डायवर्जेंट रेटिक्यूलेट' आकार के पत्तों के पेड़ लगे हैं, इसे मैं अच्छी तरह जानता हूं। ऐसा लगता है जैसे ये पेड़ अभी भी मेरी आंखों के सामने खड़े हों। इसका परिणाम यह हुआ कि बाद में कॉलेज के दिनों में मुझे वनस्पति शास्त्र सीखने में कोई खास मेहनत नहीं करनी पड़ी। इस विषय में मैं पूरे कॉलेज में प्रथम आया। जब मेरे कॉलेज

के प्रोफेसर मेरी प्रशंसा करने लगे तो मैंने अपने मन में यह बात कही – "सर, मैंने वनस्पति शास्त्र कॉलेज में नहीं सीखा। उसे तो मैंने अपने सेवाग्राम के स्कूल में सीखा था।"

जीवन से जुड़ा गणित

'एक पानी की टंकी में दो टोटियां लगी हैं। एक टोटी से टंकी में पानी भरता है और दूसरे से खाली होता है। अब यह बताओ कि टंकी कितनी देर में भरेगी?' इस प्रकार के बेसिर-पैर सवाल ही अक्सर गणित की स्कूली किताबों में भरे होते हैं। अब सवाल यह उठता है कि गणित और असली जीवन के बीच में कोई संबंध है या नहीं? कोई भी होशियार इंसान इस सवाल को हल करने के लिए नीचे वाली टोटी को बंद कर देगा और इस प्रश्न से अपना पिंड छुड़ाएगा। नई-तालीम विद्यालय में मैंने आयतन की अवधारणा और गणित किस प्रकार सीखी इसका एक उदाहरण देता हूं। हर रोज़ हम लोगों के लिए तीन घंटे कोई उत्पादक कार्य करना अनिवार्य था। यहां की शिक्षा का यह एक अभिन्न अंग था। इसके पीछे गांधीजी की 'ब्रेड लेबर' यानी खुद श्रम करके खाना जुटाने की अवधारणा तो थी ही, साथ में समाज उपयोगी कार्य द्वारा कुशलताएं हासिल करने की विनोबा की दृष्टि भी थी। इसके तहत मैं कुछ दिनों तक गोशाला में काम करने जाने लगा। नई गोशाला का निर्माण काम चालू था। मेरे शिक्षक ने मुझे एक समस्या का समाधान खोजने की ज़िम्मेदारी सौंपी थी। "यह मालूम करो कि एक गाय रोज़ाना कितना पानी पीती है। इस प्रकार गोशाला की सभी गायों की प्रतिदिन पानी की आवश्यकता कितनी होगी। फिर एक ऐसी टंकी का निर्माण करो जिसमें उतना पानी आ सके। टंकी में कितनी ईंटें लगेंगी इसका हिसाब करके उन्हें खरीदकर लाओ।" गणित की इस समस्या से मैं लगभग एक हफ्ते जूझता रहा। अलग-अलग टंकियों का आयतन कैसे नापें? बाल्टी का आकार एक तिरछे बेलन जैसा होता है, उसे कैसे नापें? टंकी का आयतन और उसका बाहरी क्षेत्रफल कैसे नापें? इस पद्धति से मैंने प्रत्यक्ष टंकी बनाकर गणित सीखी।

रसोई घर भी प्रयोगशाला

काम के ज़रिए विज्ञान-शिक्षण का मैं यहां एक और उदाहरण दे रहा हूं। सभी छात्रों को बारी-बारी से खाना बनाने की ज़िम्मेदारी सौंपी जाती थी। स्कूल के रसोई घर में रोज़ाना लगभग सौ लोग खाना खाते थे। खाना पकाने का ज़िम्मा बारी-बारी से आठ छात्रों की एक टोली को सौंपा जाता था। भोजन पर प्रति माह कितना खर्चा होना चाहिए इसका बजट टोली को

पहले ही बता दिया जाता था। आहार शास्त्र की दृष्टि से भोजन संतुलित हो, खाना सब को पसन्द आए और उस पर किया गया खर्चा बजट के अन्दर हो। इस सबकी योजना बनाते-बनाते हमारे छक्के छूट जाते। आलू की सब्ज़ी सबसे सस्ती अवश्य थी परन्तु उसमें पौष्टिक तत्व के रूप में मुख्यतः स्टार्च था, इसलिए उसे नकारना पड़ा। आई. सी. एम. आर. (इंडियन काउंसिल फॉर मेडिकल रिसर्च) द्वारा सुझाई गई न्यूनतम तेल की मात्रा के इस्तेमाल से तो सारा बजट केवल तेल पर ही खर्च हो जाता। एक कुशल गृहणी के अनुभव से तो हम वंचित थे ही। हर आहार शास्त्र और अर्थशास्त्र से जूझते, मशक्कत करते हुए कोई हल खोजने की चेष्टा करते। बहुत बार भोजन की बनाई हमारी योजना बहुत कागज़ी होती थी। वास्तव में उसे बनाना संभव ही न होता। दाल को गलने में कितना समय लगेगा, इस हिसाब में भी हम अक्सर मात खाते थे। फिर रात को खाने के सारे बर्तन घिसते-मांजते हुए हम अपने आपको एक घायल सैनिक जैसा महसूस करते थे। अगले दिन खाना पकाने की समस्या सामने 'मुंह बाए' खड़ी रहती थी।

लेकिन इस पूरी प्रक्रिया के दौरान हम तीन चीज़ें अच्छी तरह सीख गए। वे थीं – आहार शास्त्र, घर का अर्थ शास्त्र और पाक-शास्त्र यानी खाना बनाना। धनिए के हरे पत्तों में 10,600 यूनिट विटामिन 'ए' की मात्रा होती है, यह मुझे आज भी अच्छी तरह याद है। जो चीज़ें मैंने चंद दिनों में रसोई घर में काम करके सीखीं, वे सब मैं दस सालों में मेडिकल कॉलेज में नहीं सीख पाया।

खेती के प्रयोग

हम सभी छात्रों को खेती के लिए ज़मीन का एक-एक छोटा टुकड़ा दिया गया था। उसकी जुताई, बुआई, सिंचाई और खाद डालने आदि की सारी ज़िम्मेदारी हमारी थी। सिंचाई के लिए कुंए से पानी निकालने के लिए हम बच्चों की लम्बी लाईन लग जाती थी। इसलिए कई बार तो रात को ही नम्बर आ पाता था। आधी रात को सियारों की हुआं-हुआं से अक्सर बच्चों का दिल कांप उठता था, फिर भी वे हिम्मत बटोरकर अपने खेतों में पानी सींचने जाते थे। खेती करते-करते हमने फसल विज्ञान (एग्रोनॉमी) और फलों की खेती का भी ज्ञान हासिल किया। खाद डालते समय उसके रासायनिक तत्वों को जानना ज़रूरी होता था और इसलिए हमें कई बार अनुभवी किसानों के पास जाकर उनसे बातचीत करनी पड़ती थी। इन अनुभवी किसानों में जापान से धान की उन्नत खेती सीखकर आए मुक्तेश्वर भाई और अंगूरों की खेती का पहला प्रयोग करने

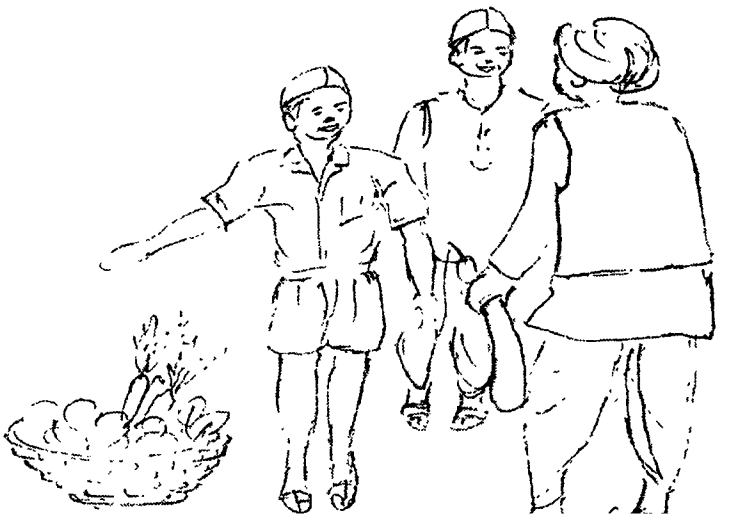

वाले प्रेमभाई शामिल थे। हमारे पास में ही इज़राइल में बहुत साल खेती सीखकर आए श्री हलेवी का खेत था। वे बैलों की जगह घोड़ों की मदद से खेत की जुताई करते थे। बीच-बीच में हमें अण्णा साहेब सहस्त्रबुद्धे खेती से संबंधित अर्थशास्त्र के नए-नए प्रयोग सुझाते थे। ऐसे माहौल में हमने खेती करते हुए क्या-क्या नहीं सीखा?

किसके खेत में अधिक पैदावार होगी इस बात को लेकर छात्रों में होड़ लगी रहती थी। पैदावार बढ़ाने की चेष्टा में हम खेत में खूब खाद यानी बाल्टी भर-भर कर गोमूत्र डालते थे। इस प्रकार गोमूत्र डाल-डाल कर मैंने पौने दो किलो का एक बैंगन उगाया! जब उस बैंगन को मैं वर्धा के बाज़ार में बेचने गया तो उसे रोगी समझकर किसी ने खरीदा ही नहीं!

जीवंत शिक्षा

नई-तालीम पद्धति पर अक्सर एक आरोप लगाया जाता है। स्कूल में छात्र शारीरिक श्रम में जितना समय व्यय करते हैं वह उनके ज्ञानार्जन के मार्ग में बाधक बनता है। मद्रास प्रान्त में जब बेसिक एज्यूकेशन शुरू हुआ तब लोगों ने आरोप लगाया "शारीरिक श्रम के कारण हमारे बच्चों की पढ़ाई पीछे छूट रही है।" इस आरोप के कारण वहां के तत्कालीन मुख्यमंत्री राजाजी को इस्तीफा देना पड़ा। परन्तु असलियत क्या है? बच्चों के दिमाग में तमाम अचरा-कचरा जानकारी

भरना और उसे परीक्षा में उगल देने को जो लोग 'सही शिक्षा' मानते हैं, उन्हें अवश्य यह आरोप सही लगा होगा। अगर बच्चा गंधक के अम्ल को बनाने की चार अलग-अलग विधियां नहीं बता सकता है तो उसका ज्ञान कच्चा है, ऐसा इस गुट का मानना है। नवीं कक्षा के विद्यार्थी को इस जानकारी से क्या लाभ होगा, शायद इससे उन्हें कुछ लेना-देना नहीं है। पर जीवन से संबंधित हर ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में नई-तालीम के छात्र कहीं अधिक कुशल पाए गए। परन्तु इतिहास, भूगोल, राजनीति शास्त्र और सामान्य-ज्ञान जैसे विषयों में उनकी क्या स्थिति थी?

भूगोल जैसा विषय मैंने अपने जादू भरे स्कूल में औपचारिक रूप में कभी नहीं सीखा। सेवाग्राम में देश-विदेश के बहुत से लोग आते थे। उनसे अलग-अलग देशों और प्रान्तों के बारे में सुनकर मैंने बहुत कुछ सीखा। मुझे विभिन्न देशों के डाक-टिकट इकट्ठे करने का बहुत शौक था। इससे मुझे दुनिया के विभिन्न देशों के बारे में काफी जानकारी भी मिलती थी। बहुत-सी यात्राओं के वर्णन और देश-विदेश की कहानियां पढ़कर मुझे उन देशों की पृष्ठभूमि का अच्छा अनुमान हो गया था। इस प्रकार मैंने भूगोल सीखा। जब मैं नवीं कक्षा में था उस समय मैंने शरतचंद्र की 'पथेर दावी' और

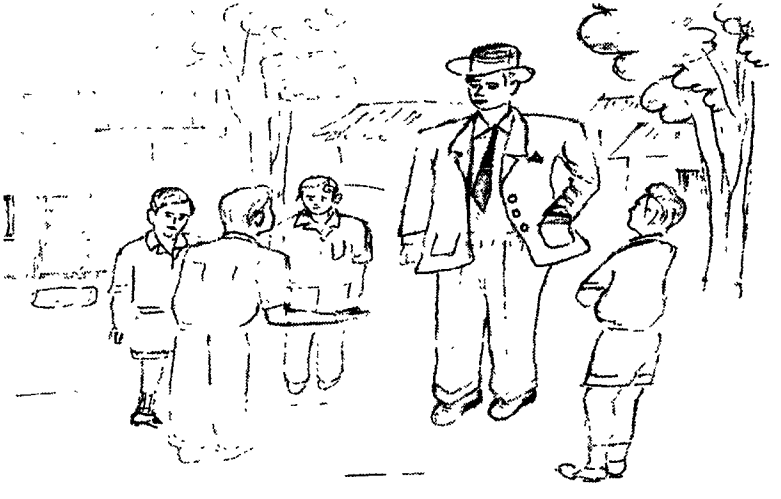

झवेरचंद्र मेघाणी द्वारा लिखित 'प्रभु पधारे' उपन्यास पढ़े थे। इससे मेरा बर्मा देश से अच्छा परिचय हुआ। इन दोनों पुस्तकों से मिली प्रेरणा ही एक दिन मुझे बर्मा खींचकर ले जाने का कारण बनी। मेरे लिए भूगोल एक बोझिल विषय न होकर एक ज़िन्दा विषय था।

राजनीति और सामान्य ज्ञान पढ़ाने के लिए भी हमारे शिक्षकों ने एक अलग ही रास्ता अपनाया था। हर रोज़ शाम को वे हमें अखबार में से खास-खास खबरें और रोचक जानकारियां पढ़ते-पढ़वाते थे। बाद में वे हमें उन घटनाओं का इतिहास और उनके पीछे छिपी राजनीति समझाते थे। रूस द्वारा क्यूबा को भेजे गए आण्विक शस्त्र और उन्हें रोकने के लिए अमरीका द्वारा की गई कार्यवाही उस समय की एक प्रमुख खबर थी। हमारे शिक्षक ने बताया किस तरह दूसरे महायुद्ध के बाद दुनिया दो खेमों, पूंजीवादी और साम्यवादी गुटों में बंट गई। हमारे शिक्षक रूस और अमरीका के बीच पारस्परिक दुश्मनी का कारण भी हमें समझाते, और क्यूबा की क्रांति का महत्व भी बताते। स्विट्ज़रलैंड के लोग खुद अपने देश को 'हेल्वेटिया' क्यों कहते हैं, यह प्रश्न डाक टिकट इकट्ठा करते हुए मेरे सामने आया। इस सवाल का उत्तर ढूंढने के लिए हमने बहुत-सी किताबें पढ़ीं और इस प्रकार हमारा उस देश के इतिहास से भली-भांति परिचय हो गया।

पढ़ाई का नया तरीका

गांधीजी की शिक्षा की अवधारणा और रवीन्द्रनाथ के कला प्रेम को मूर्त रूप देने के लिए हमारे स्कूल में अनेक सृजनशील प्रयोग किए गए। इनके कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। इम्तहान में आए प्रश्नों के अतिरिक्त भी हमारी अन्य कई परीक्षाएं ली जाती थीं– जैसे खाना पकाना, नाटक लिखने से खेलने तक, भरी सभा में भाषणं देना, लेख लिखना आदि। सबसे अनूठा प्रयोग तो यह था कि कक्षा की कल्पना को बहुत लचीला बना दिया गया था। सभी छात्र कुछ विषयों में अधिक तेज़ होते हैं और कुछ में थोड़े कमज़ोर। उन्हें हर विषय के लिए एक ही कक्षा में बैठना ज़रूरी नहीं था। अपनी क्षमता और स्तर के अनुसार बच्चे किसी एक विषय को सीखने के लिए अलग-अलग कक्षाओं में बैठ सकते थे। इसका मतलब यह था कि मैंने एक साल में सातवीं की अंग्रेज़ी, नवीं की गणित और दसवीं की मराठी सीखी। अच्छे सामाजिक मूल्यों का निर्माण इस शिक्षा का एक अभिन्न अंग था। श्रम के प्रति आदर, स्वावलंबन, समानता और सामूहिकता जैसी बातें हम स्कूल के जीवन में रोज़ ही जीते थे। इन मूल्यों के साथ-साथ देश में चल रहे समाज परिवर्तन के

आंदोलनों में भी छात्र हिस्सा लेते थे। हर साल कुछ दिनों के लिए स्कूल में ताला लगा दिया जाता था और सारे छात्र भूदान आंदोलन में भाग लेने के लिए दूर-दराज़ के गांवों में जाते थे।

०००

आज जब मैं अपने बचपन के स्कूल के बारे में लोगों को बताता हूं तो अधिकतर लोग मुझसे पूछते हैं "क्या अभी वो स्कूल चल रहा है? हम उसमें अपने बच्चों को भेजना चाहेंगे।" अपने स्कूल की यही आखिरी बात मैं आपको बताना चाहता हूं।

गांधीजी की ग्रामोद्योग की कल्पना को सरकार का प्रोत्साहन नहीं मिला। अंत में बड़े कारखानों के साथ स्पर्धा में ग्रामोद्योग हार गए। इस स्कूल को कोई शासकीय मान्यता प्राप्त नहीं थी, इसलिए वह वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में टिक नहीं पाया। शासकीय मान्यता के अभाव में इस स्कूल के बच्चों के भविष्य पर एक प्रश्न-चिन्ह लग गया। कुछ अन्य वजहों से भी पालकों ने अपने बच्चों को इस स्कूल में भेजना बंद कर दिया। भूदान-ग्रामदान आंदोलनों में सक्रिय बहुत से पालकों ने एक समय अपने बच्चों को इस स्कूल में दाखिल किया था परन्तु उन्होंने भी बाद में अपने बच्चों को निकाल लिया। समाज व शासन इस निराले स्कूल और उसकी अनूठी पद्धति का सही मूल्यांकन नहीं कर पाया। ऐसी परिस्थिति में परिवर्तन का कोई भी टापू बहुत अधिक देर तक टिका नहीं रह सकता है। आसपास का विरोधी वातावरण जल्द ही उसे निगल गया। बाद में ग्रामदान आंदोलन भी नहीं टिक पाया। समाज में व्याप्त स्वार्थ और प्रतिस्पर्धा की होड़ शिक्षा के इस अनोखे टापू को निगल गई। मेरी दिली तमन्ना है कि मैं अपने बेटे को शिक्षा के उस जादुई स्कूल में भेजूं। परन्तु अब वह जादूई स्कूल है कहां?

डॉ. अभय बंग: महाराष्ट्र के गढ़चिरौली में 'सर्च संस्था से जुड़ाव। आदिवासी स्वास्थ्य के क्षेत्र में काम कर रहे हैं।
अरविंद गुप्ता: स्वतंत्र लेखन; नई दिल्ली में रहते हैं।
यह लेख मराठी पत्रिका 'साम्ययोग' के अक्टूबर 1987 के अंक में प्रकाशित हुआ था।